

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

गृहस्थ-जीवन प्रकरण

गंगाद्वारे तु कुंभस्य पर्वणः समये शुभे।
गंगातटे सुसंमर्दी नृणां धर्मात्मनां महान् ॥ १ ॥
वर्द्धते स्म तथा श्रद्धा तीर्थयात्रिनृणां शुभा।
गंगेव गतिशीला च प्रोच्छन्तीव ददृशे ॥ २ ॥
संबोध्योपस्थितान् धौम्यो महर्षिः स उवाच च।

जगन्मंगलबोधिण्यां वाचि शान्ते तपोवने ॥ ३ ॥

टीका—गंगा तट पर हरिद्वार क्षेत्र में संपन्न हो रहे कुंभ पर्व के आयोजन में धर्म प्रेमियों की भीड़ बढ़ती ही जा रही थी। गंगा की तरह तीर्थयात्रियों की श्रद्धा भी उमँगती और प्रगतिशील दृष्टिगोचर हो रही थी। शांत तपोवन के समान उस स्थान पर महर्षि धौम्य ने उपस्थित जनों को उद्बोधित करते हुए कहा, उनकी वाणी में जगत् की कल्याण कामना टपक रही थी ॥ १-३ ॥

कुंभ पर्व पर आयोजित इस विशेष सत्र में श्रोताओं की भीड़ का निरंतर बढ़ना उतने महत्त्व की बात नहीं, जितनी कि श्रद्धा में प्रगति होना। भीड़ तो हाट-बाजारों में बाजीगर एवं नट भी खूब इकट्ठी कर लेते हैं। हल्के मनोरंजन कौतुक के नाम पर नित्य भीड़ें एकत्र होती देखी जा सकती हैं, पर इनसे लोकहित का प्रयोजन सधता नहीं। कुंभ पर्वों के आयोजन सूत-शौनक परंपरा में होते ही इसीलिए थे कि जनमानस में श्रद्धा उभारकर सत्प्रवृत्तियों का पोषण उन्हें दिया जाए। यह सत्र तो गृहस्थों का होने के नाते और भी महत्त्वपूर्ण था।

विशेष बात यहाँ पर यह देखी जा सकती है कि श्रद्धा उपस्थित समुदाय में है भी एवं वह प्रगतिशील है। आदर्शों

पर दृढ़ रहना भर पर्याप्त नहीं है। जब अंतः से उद्भूत भावनाएँ काल परिवर्तन के साथ लोकोपयोगी संशोधनों को भी सहज भाव से स्वीकार करने लगें, तो श्रद्धा को प्रगतिशील माना जा सकता है। ऐसी श्रद्धा उमँगने का माहात्म्य प्रतिपाद्य विषय की श्रेष्ठता एवं वक्ता की विद्वत्ता से भी बढ़कर है। जहाँ जन साधारण को जनहित की कामना से किए जा रहे आयोजन का महत्त्व समझ में आ जाता है, वहाँ सुपात्र श्रोता स्वतः ही फूल पर मधुमक्खी की तरह रमने लगते हैं।

धौम्य उवाच

भद्रा ! सद्गृहस्थास्तु भवन्तः सर्व एव हि।

नात्मानमाश्रमाद्धीनं कस्माच्चिदपि मन्यताम् ॥ ४ ॥

लोभमोहविलासानां गृह्यन्ते दुष्प्रवृत्तयः।

पतनस्य महागतेर्हि पातो नृणां ध्रुवम् ॥ ५ ॥

ईदृशावसरा नूनं गृहस्थे संभवन्त्यलम्।

परं विवेकशीलास्तु रक्षन्त्यात्मानमात्मना ॥ ६ ॥

दुर्बलाया मनोभूमेः प्रवाहे प्रवहन्ति ये।

ईदृशीमधिगच्छन्ति प्रायस्ते पुरुषा गतिम् ॥ ७ ॥

कर्त्तव्यधर्मं जानन्ति नरा ये ते गृहस्थजाम्।

मर्यादां परिजानन्तः पालयन्ति सदा च ताम् ॥ ८ ॥

ईदृशानां नृणामेव कृते सञ्जायते ध्रुवम्।

गृहस्थाचरणं स्वस्य विश्वस्यापि तथैव च ॥ ९ ॥

कल्याणकारको हेतुरुभयोरपि पूरकः।

श्रूयतां सावधानैश्च भवद्भिः समुपस्थितैः ॥ १० ॥

टीका—महर्षि धौम्य ने कहा हे भद्रजनों आप लोग सद्गृहस्थ हैं। किसी आश्रम से अपने को हीन न समझें। लोभ, मोह और विलास की दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाने पर कोई भी

३.१२ प्रज्ञोपनिषद्

निश्चित रूप से पतन के गर्त में गिर सकता है। ऐसे अवसर गृहस्थाश्रम में अपेक्षाकृत अधिक रहते हैं, लेकिन विवेकशील स्वयं को इनसे बचाए रखते हैं। दुर्बल मनोभूमि के प्रचलन प्रवाह में बहने वाले ही प्रायः ऐसी दुर्गति प्राप्त करते देखे जाते हैं। जिन्हें कर्तव्यधर्म का ज्ञान है, वे गृहस्थ की मर्यादा को समझते तथा उसका पालन करते हैं। ऐसों के लिए गृहस्थ का आचरण आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के दोनों ही प्रयोजन पूरे करने का निमित्त कारण बनता है। हे उपस्थितजनों, तुम सब सावधान होकर सुनो ॥ ४-१० ॥

सामान्यतया सभी आश्रमों में गृहस्थ जीवन को सर्वाधिक माया, प्रपंचयुक्त मानकर अन्य आश्रमों से छोटा माना जाता है। इस मान्यता को भ्रांतिपूर्ण बतलाते हुए सत्राध्यक्ष महर्षि धौम्य उपस्थित श्रोताओं को एक मनोवैज्ञानिक ग्रंथि से मुक्त होने का उद्बोधन देते दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

दो अतिवाद इस आश्रम में देखने को मिलते हैं। अत्यधिक मोह-ममता के मायाजाल में फँसकर कइयों को और भी अधिक उलझते पतित होते देखा जा सकता है। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति भ्रांतिवश अथवा कायरतावश इसे त्यागकर वैराग्य की बात करने लगते हैं, जबकि वह मार्ग इस आश्रम की कसौटी पर खरा उतरने वाले साधकों के लिए है एवं इससे भी अधिक दुष्कर है।

ऋषिश्रेष्ठ यहाँ कहते हैं कि मनुष्य के पतन का कारण, गृहस्थ जीवन नहीं, अपितु उसके निर्धारित अनुशासनों से भटक जाना है। लोभ, मोह, व्यसन आदि दुष्प्रवृत्तियाँ चाहे गृहस्थ हों, चाहे विरक्त किसी को नहीं छोड़तीं। इनसे जूझने के लिए तो विवेक का अवलंबन अनिवार्य है ही। गृहस्थ को उसका निमित्त कारण मानते हुए अन्य कहीं बिना मन लगे, समय काटने की अपेक्षा तो इस आश्रम की भली प्रकार निवाहते हुए विवेक का उपयोग कर दुष्प्रवृत्तियों से बचना चाहिए एवं आत्म परिष्कार की लक्ष्य सिद्धि की ओर बढ़ चलना चाहिए।

तथ्यानि स्पष्ट यन्मोऽगादीद् धौम्यो महामुनिः।

महत्त्वपूर्णोऽयं धर्मो गृहस्थाश्रमजो ध्रुवम् ॥ ११ ॥

तस्मिन्पारिजातायास्तु क्षमताया भवत्यलम्।

उपयोगस्य सच्छिक्षा ह्यनुभूतिश्च सा नृणाम् ॥ १२ ॥

कैशोर्ये स्वास्थ्यसंवृद्धिः शिक्षार्जनमथापि च।

संयमोऽनुभवावाप्तिरनुशासनसंश्रयः ॥ १३ ॥

ईदृशीः क्षमता बह्व्यो लभ्यतेऽहर्निशं नरैः।

नियोज्यश्च विकासस्य क्रमश्चापि सुनिश्चितः ॥ १४ ॥

जायते परिपक्वश्च यौवनारंभ एव तु।

प्रायोनरो दिशांकाञ्चिद् गृह्णात्यपिनिजां स्वयम् ॥ १५ ॥

विधिना केन कर्तव्य उपयोगोऽस्य संततम्।

परिपक्वत्वभावस्य समावेशोऽत्र विद्यते ॥ १६ ॥

धर्मे गृहस्थजे यत्र प्रविष्टे तु बहून्यपि।

दायित्वानि समायांति सर्वेष्वेव नरेष्वलम् ॥ १७ ॥

अभिभावकवर्गैश्च भरणदौ व्ययस्तु यः।

कृतस्तस्मादृणान्मुक्तौ सहयोगस्तु तैः सह ॥ १८ ॥

कर्तव्यः प्रथमं चैतत्कर्तव्यं जायते नृणाम्।

वयस्कैः सहयोगस्तु यत्तश्चोत्थापने सदा ॥ १९ ॥

अनुजानां विधातव्यो भवतीति विवेकिनाम्।

यौवने समनुप्राप्ते समेषामेव वै नृणाम् ॥ २० ॥

टीका—तथ्यों को और भी स्पष्ट करते हुए महामुनि धौम्य आगे बोले गृहस्थ धर्म अपने स्थान पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसमें उपार्जित क्षमता के सदुपयोग का प्रशिक्षण एवं अनुभव प्राप्त होता है। उठती आयु में स्वास्थ्य संवर्द्धन, शिक्षा अर्जन, अनुभव संपादन, अनुशासन, अवलंबन संयम जैसी अनेकों क्षमताएँ उपलब्ध की जाती हैं। विकासक्रम सुनियोजित किया जाता है। यौवन काल में प्रवेश करने तक मनुष्य बहुत कुछ परिपक्व हो जाता है तथा स्वयं किसी दिशा की ओर बढ़ना चाहता है। इस परिपक्वता का सदुपयोग किस प्रकार हो, इस विधि-व्यवस्था का गृहस्थ धर्म में समावेश है। उसमें प्रवेश करने पर कई उत्तरदायित्व कंधे पर आते हैं। अभिभावकों द्वारा किए गए भरण-पोषण में जो ऋण चढ़ा है, उसे उनका हाथ बँटाते हुए उतारना प्रथम कर्तव्य है। समान आयु वालों का प्रयत्न सहयोग, छोटों को ऊँचा उठाने आगे बढ़ाने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न यह उत्तरदायित्व यौवन काल में प्रवेश करते ही हर विचारशील को निभाना ही होता है ॥ ११-२० ॥

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व जिन सोपानों से मनुष्य को गुजरना पड़ता है, वे उसे शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ एवं वैचारिक दृष्टि से परिपक्व बनाते हैं। किसी भी परीक्षा को पास करने के बाद एक प्रशिक्षण अवधि होती है, जिसे पूरा किए बिना सीधे नौकरी नहीं दे दी जाती। एप्रेन्टीसशिप, इन्टर्नशिप का अभ्यास किए बिना मैकेनिक, इंजीनियर या डॉक्टर की भूमिका निभाना संभव नहीं। अर्जित ज्ञान संपदा एवं प्राप्त सामर्थ्य क्षमता का उच्चस्तरीय व्यावहारिक शिक्षण कहाँ हो ताकि मानवी व्यक्तित्व कसौटी पर कसने योग्य बन सके? इसके लिए ऋषिगणों ने गृहस्थाश्रम का प्रावधान किया है। यह मनुष्य के भावी विकास के सुनियोजन की अवधि है।

ब्रह्मचर्य की अवधि में, उठती आयु में जब मानसिक विकास अति तीव्र होता है, अनेकों अनुभव जीवन संबंधी उपलब्ध होते हैं। मनुष्य स्वयं के संबंध में, अपने परिकर के बारे में नूतन जानकारीयाँ अर्जित करता है। इस ज्ञान भंडार को गृहस्थ धर्म निबाहते समय विधिपूर्वक दिशा दी जा सकती

है। यह जिम्मेदारियों के निर्वाह की अवधि है। जन्म से विवाह होने तक जिन माता-पिता ने सारे कष्ट उठाते हुए उत्तरदायित्वों को निवाहा और प्रगति पथ पर आगे बढ़ाया, उनके ऋण से मुक्त होने के लिए उनके सहयोगी सहायक के रूप में स्वयं को विकसित करना पड़ता है। अर्थ प्रतिभा, शारीरिक श्रम, सद्भाव जिस भी माध्यम से बन पड़े इस पितृऋण को चुकाना गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य है।

बचपन एवं यौवनावस्था की इस पूरी अवधि में सम आयु वाले जिन सखा-सहयोगियों का विकास क्रम में हाथ रहा है, उनकी ओर अपनी ओर से भी हाथ बढ़ाना युवा गृहस्थ का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है। अपने से छोटी आयु के किशोरों, बालकों के प्रति भी जिम्मेदारियाँ शेष रह जाती हैं, क्योंकि मनुष्य परिवार संस्था की एक इकाई होने के नाते उसके समग्र विकास के लिए भी उत्तरदाई है। अपने अनुभवों से छोटों को भी लाभान्वित किया जाना चाहिए, ताकि वे भी अर्जित ज्ञान संपदा की फलश्रुतियाँ जीवन में उतार सकें।

हर दृष्टि से गृहस्थाश्रम तक पहुँचने वाला व्यक्ति अर्जित उपलब्धियों के नाते अपने से छोटों के लिए प्रेरणा का स्तोत्र होना चाहिए। न केवल अनुकरणीय आचरण करने वाला, अपितु अपनी उपलब्धियों से छोटों को आगे बढ़ाने, मनोबल जागृत कर उन्हें सही दिशा देने योग्य सक्षम होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रतिपादन में गृहस्थ जीवन की जिन तीन महती जिम्मेदारियों का विवरण प्रस्तुत हुआ है, वह बड़ा ही हृदयग्राही प्रेरक एवं वरेण्य है।

ऋणान्यन्यानि विद्यंते दैवान्येव विधानि तु।

कुटुंबक्षेत्रबाह्यानि यान्यानृण्यवहानि च ॥ २१ ॥

देशधर्मसमाजानां संस्कृतेर्बहुभिस्तु तैः ।

अनुदानैर्विकासस्य प्राप्तस्त्वसरः शुभः ॥ २२ ॥

कुटुंबस्यैव ते लोका व्यवस्थाः समुपार्जितुम्।

न समर्था भवन्त्यत्र सर्वतश्चिंत्यतां यतः ॥ २३ ॥

जीविकोपार्जनं पाणिग्रहणं शिक्षणं तथा।

अनेकानि हि कार्याणि बहूनामिह सन्नृणाम् ॥ २४ ॥

अनुदानैस्तु जायंते ऋणं दैवं समाजगम्।

महत्त्वपूर्णं चैतद्धि नरैः प्रोक्तमृणं वरैः ॥ २५ ॥

तस्मान्मुक्तिश्च सर्वेषां कर्तव्यं विद्यते नृणाम्।

समाजस्य समृद्धिश्च विकासो भवतोऽभितः ॥ २६ ॥

यौवनारंभकाले च नरः सर्वो हि विद्यते।

समर्थोऽपि च संपन्नो वैभवं पुरुषैरिदम् ॥ २७ ॥

उपयोक्तव्यमत्रैव दातुं सामाजिकं सदा।

ऋणमेषु दिनेषु स्युः यानि कार्याणि तद्वरम् ॥ २८ ॥

टीका—परिवार क्षेत्र से बाहर भी चुकाने योग्य अनेकानेक देवऋण हैं। देश, धर्म, समाज, संस्कृति के अनेकानेक अनुदानों

के सहारे ही मनुष्य को सुविकसित होने का अवसर मिला है। मात्र परिवार के लोग ही जीवन निर्वाह की सारी व्यवस्थाएँ नहीं जुटा देते। चारों ओर दृष्टि डालकर विचारें, चूँकि आजीविका उपार्जन और सहचर का पाणिग्रहण, शिक्षा अभिवर्द्धन जैसे अनेकानेक सुयोग असंख्यों लोगों के अनुदान से ही हस्तगत होते हैं। यह सब देवऋण अर्थात् समाज-ऋण कहलाता है। श्रेष्ठ पुरुषों ने इसे महत्त्वपूर्ण ऋण कहा है। इस ऋण को चुकाना समाज को हर दृष्टि से समृद्ध सुविकसित बनाना, हर विचारशील का आवश्यक कर्तव्य है। यौवन में प्रविष्ट होते समय मनुष्य समर्थता और संपन्नता की स्थिति में होता है। इस वैभव का उपयोग समाज ऋण चुकाने हेतु किया जाना चाहिए। इन दिनों जितने लोकोपयोगी कार्य बन सकें, उतना ही उत्तम है ॥ २१-२८ ॥

परिवार तो समाज की एक इकाई है। मनुष्य को विकसित स्थिति तक पहुँचाने में समाज के हर घटक की भूमिका है। अपने आप तक अथवा परिवार तक ही सीमित होकर रह जाने वाले व्यक्ति संकीर्ण कहलाते हैं। मुसीबतें आने पर भी उन्हें कोई सहयोगी नहीं मिलता, क्योंकि वे स्वयं किसी के कभी काम ना आए। शरीर बल संवर्द्धन, साधन उपार्जन, बहिरंग शिक्षा सभ्यता के माध्यम से व्यक्तित्व संवर्द्धन जैसे महत्त्वपूर्ण अनुदान माता-पिता से लेकर समाज के विभिन्न अंगों द्वारा किए गए सहयोग के परिणाम स्वरूप हस्तगत होते हैं।

जिस समाज राष्ट्र में हमने जन्म लिया है, उसने प्रकारांतर से हमें संरक्षण एवं साधन देकर उपकृत किया है। उसके प्रति उऋण हुए बिना हम कृतघ्न कहे जाएँगे, चाहे हमारी व्यक्तिगत उपलब्धियाँ, श्रेय संपदा कुछ भी क्यों न हो? इसके लिए सबसे उत्तम काल वही है, जब मनुष्य स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मनःस्थिति एवं साधनों की दृष्टि से भी समर्थ संतुलित होता है। पारिवारिक जीवन आरंभ करते समय यौवन की पराकाष्ठा होती है। ऐसे में मद में चूर न होकर अपने कर्तव्य में जुट जाना ही मनुष्य की श्रेष्ठता का सूचक है। जहाँ तक हो सके जन कल्याण की योजनाओं में स्वयं को नियोजित कर अपनी प्रतिभा का लाभ समाज को देना चाहिए।

यह बात सदैव स्मरण रखी जानी चाहिए कि संसार में हमने बहुत कुछ पाया है। अधिकांश जीवनोपयोगी वस्तुएँ लोगों के परिश्रम से बनी हैं। उनके बुद्धि कौशल का अनुग्रह लाभ उठाकर ही हम उस स्थिति में पहुँचे हैं, जहाँ कि आज हैं। यदि किसी का सहयोग न मिला होता, तो सुसंपन्न होना तो दूर, कदाचित् हम जीवित भी न रह पाते। ऐसी दशा में आवश्यक है कि उस बगीचे को सीचें, जिसकी छाया में बैठकर हम फलों से गुजारा करते हैं। ऋणमुक्ति का सही

३.१४ प्रज्ञोपनिषद्

तरीका इस विश्वसुधा को सुखी-समुन्नत बनाना ही है। ऋणग्रस्त को मोक्ष कैसे मिले?

कामेच्छाऽपि नरान् सर्वान् विह्वलान् विदधाति सा ।
 प्रकृतिप्रेरणा चैवं भावना वेगवत्यलम् ॥ २९ ॥
 पुंसोरत्रोभयोरेव समुदेति यथा वयः ।
 शक्तिप्रवाहमेनं च नियम्यैव विवेकिनः ॥ ३० ॥
 प्रयोजनेषु दिव्येषु योजयन्ते परं नहि ।
 आत्मनिग्रहहीनैस्तु सामान्यैः शक्यते नृभिः ॥ ३१ ॥
 अस्मिन्नायुषि लोकास्तदद्यत्वेऽनुभवत्यलम् ।
 विवाहस्यानिवार्यत्वं प्रवर्तन्ते च तत्र ते ॥ ३२ ॥
 परं विवाहः कर्तव्यः शरीरे पक्वतां गते ।
 उपार्जने समारब्धे दायित्वं गृह्यतामिदम् ॥ ३३ ॥
 अवयस्कैर्वृत्तिहीनैर्विवाहस्यास्य बन्धनम् ।
 न स्वीकार्यं तथा नैव दंपत्योर्द्वन्द्वनिश्चये ॥ ३४ ॥
 रूपमात्रं न द्रष्टव्यं, गुणं कर्म तथैव च ।
 स्वभावः प्रमुखत्वेन विवेच्यः सुखमिच्छता ॥ ३५ ॥

टीका—कामेच्छा भी प्रचलन प्रवाह के कारण मनुष्य को बेचैन करती रहती है। प्रकृति-प्रेरणा से इस प्रकार की उत्तेजना नर-मादा दोनों में ही अवस्थानुसार उत्पन्न होती है। विचारशील तो इस शक्ति प्रवाह को रोककर महान् प्रयोजनों में भी लगा देते हैं, पर साधारण जनों से, आत्म निग्रह के अभाव में ऐसा कुछ बन नहीं पड़ता। इसलिए आम लोग इस आयु में विवाह की आवश्यकता अनुभव करते और उसमें प्रवृत्त भी होते हैं। विवाह शरीर के परिपक्व होने पर ही करना चाहिए। उपार्जन आरंभ होने पर ही यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए। न कमाने वाले और कम आयु वाले विवाह न करें। जोड़ी निश्चित करने में रूप-सौंदर्य को नहीं, गुण, कर्म, स्वभाव को महत्त्व देना चाहिए ॥ २९-३५ ॥

यौन उल्लास एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो गृहस्थाश्रम के प्रारंभ में प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति के रूप में उमंगों के रूप में उठने लगती है। इसका सुनियोजन महत्त्वपूर्ण है, अस्वाभाविक रूप से नियंत्रण लगाने से तो अनेकों विकृतियाँ जन्म ले सकती हैं। कुछ विरले व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो इस उल्लास को सृजनात्मक प्रयोजनों से जोड़कर आजीवन अविवाहित बने रहते हैं। सारा समाज उनका कार्य क्षेत्र होता है, परिवार होता है, अतः उन्हें कोई अभाव भी अनुभव नहीं होता।

बहुसंख्य व्यक्ति उपरोक्त श्रेणी में नहीं आते। कामेच्छा एक सहज प्रवृत्ति के रूप में उन्हें व्यग्र बनाती एवं विवाह बंधन में बँधने की दिशा देती है। कामोल्लास के सुनियोजन हेतु जरूरी है कि व्यक्ति मर्यादा से बँधकर रहे। खेत में मेड़ न बाँधी जाए, तो सारा पानी बहकर निकल जाता है, फसल

को कोई लाभ नहीं मिल पाता। आत्मसंयम का एक रूप यह भी है कि व्यक्ति अपने को एक जीवनसाथी के साथ जोड़कर अपना कर्तव्यपालन करता रहे। मानसिक चिंतन कामवासना से भरा हो एवं व्यक्ति अविवाहित हो, तो इसे किसी प्रकार का त्याग या अध्यात्म मार्ग का सोपान नहीं कहा जा सकता। इसी कारण ऋषियों ने विवाह-बंधन का प्रावधान किया है, ताकि व्यक्ति वर्जनाओं में बँधा रहे।

विवाह कच्ची आयु में न हो, न ही आयु बीत जाने पर। शरीर एवं मन की दृष्टि से जब व्यक्ति परिपक्व है, अपने पैरों पर खड़ा है, अपनी एवं अपने परिवार की जिम्मेदारियाँ उठा सकने में समर्थ है, तो वही विवाह की सही उम्र है। परावलंबी बच्ची मनःस्थिति के असंयमी व्यक्ति तो ऐसा करके अपने पैरों कुल्हाड़ी मारते हैं, जीवन साथी के साथ भी विश्वासघात करते हैं।

विवाह करते समय दोनों ही पक्षों के चिंतन एवं चरित्र को महत्ता मिलनी चाहिए। वही मूल संपदा है, जो जीवन रूपी नैय्या पार लगाती है। रूप को महत्त्व देने वाले ऐसे अनेकों मूर्ख समाज में देखे जा सकते हैं जो इसी कारण अनेकों संबंध टुकरा देते व फिर स्वयं दर-दर की ठोकें खाते फिरते हैं। जहाँ स्वभाव मिले, दोनों के आदर्श मिलें, वही सच्चा गठबंधन है, पाणिग्रहण है।

देवानां वस्तुजातानां चाकचक्यस्य वा पुनः ।

आभूषणादिकानां च सम्मर्हस्य प्रदर्शनम् ॥ ३६ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारे यदि सम्मिलितं भवेत् ।

कालुष्यं भजते दिव्यमात्मबन्धनमादितः ॥ ३७ ॥

अपव्ययानुगाश्चैते धनमुख्या भवन्ति ये ।

पाणिग्रहणसंस्कारा आसुरास्ते ह्यवाञ्छिताः ॥ ३८ ॥

कारणैरेभिरेवात्र पक्षयोरुभयोरपि ।

अयथाबलमारंभैरविवेकतयाभृशम् ॥ ३९ ॥

आजीवनं भवेन्नूनं मनोमालिन्यमंततः ।

जीवनं स्वर्गतुल्यं च गार्हस्थ्यं नरकायते ॥ ४० ॥

टीका—दहेज, आभूषण, प्रदर्शन, भीड़भाड़, धूमधाम जैसे अपव्यय विवाह संस्कार के साथ सम्मिलित करने पर वह परम पवित्र आत्मबंधन प्रारंभ में ही कलुषित हो जाता है। ऐसे धन प्रधान विवाहों को आसुर विवाह कहते हैं, ये अवांदिनीय है। इन कारणों से दोनों पक्षों के बीच आजीवन मन-मुटाव बना रहता है। चूँकि दोनों अपनी शक्ति से अधिक व्यय करते हैं, विवेक से काम नहीं लेते। इससे स्वर्गतुल्य गृहस्थ जीवन नरक तुल्य बन जाता है ॥ ३६-४० ॥

विवाह एक पवित्र बंधन है जिसमें दो आत्माओं का उच्चस्तरीय प्रयोजनों हेतु मिलन संयोग होता है। इस परंपरा में विकृतियों का समावेश मनुष्य की कुटिल बुद्धि की उपज है।

कन्यादान के साथ धन संपदा, विलास के साधनों का आदान-प्रदान एक शर्त के रूप में जोड़ देना, स्वार्थ बुद्धि की पराकाष्ठा तो है ही, मनुष्य की शोषक क्रूर प्रवृत्ति का परिचायक भी है।

दुर्भाग्यवश इस पवित्र मिलन के साथ मध्यकाल के अंधकारयुग में ऐसे कुप्रचलनों का समावेश हो गया, जिन्होंने न केवल विवाह संस्था को कलुषित किया, अपितु अनेकों निरपराध मासूम कन्याओं को दहेज की बलिवेदी पर चढ़ने को विवश कर दिया। जहाँ गुण, कर्म, स्वभाव का परस्पर मिलकर परिष्कार होना चाहिए था, वहाँ इसके विपरीत व्यावसायिक वणिक् वृत्ति ने पारस्परिक संबंधों के मध्य एक गहरी दरार पैरा कर दी है। इससे आपस में दो व्यक्तियों के मिलकर एक होने की बात तो दूर संदेह, घृणा, अपमान एवं अशिष्ट कृत्यों ने नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं।

अपव्यय से युक्त विवाहों के लिए दोनों ही पक्ष दोषी हैं। धूमधाम का प्रदर्शन जिस अहंता की वृत्ति के कारण किया जाता है, उसे त्यागा जाना चाहिए। खरचीले विवाह निश्चित ही व्यक्ति को दरिद्र एवं बेईमान बनाते हैं। गरीबों या सामान्य व्यक्तियों द्वारा अमीरों का स्वाँग बनाया जाना एक बुरी किस्म का फूहड़पन है। दहेज का रिवाज जब भी कभी था तब वह विशुद्ध स्त्रीधन के रूप में स्वेच्छा से दिया जाता था। पिता, भाई, कुटुंबी, संबंधी अपनी सामर्थ्यानुसार कुछ लड़की को देते थे, ताकि वह संकट के समय काम आ सके। अब जब वरपक्ष कन्या के साथ जबरदस्ती दहेज की रकम भी दिए जाने की शर्त ठहराता है तो यह विवाह पुण्य कृत्य न होकर आसुरी कृत्य हो जाता है। दहेज कम मिलने पर वधू को जलाकर मार देने या गला घोट देने जैसे पैशाचिक कृत्य नित्य इन दिनों प्रकाश में आ रहे हैं। राजदंड तो इन्हें मिलना ही चाहिए, ऐसे कृत्य करने वालों को सामाजिक दंड भी मिलना चाहिए, ताकि उन्हें व अन्यो को सीख मिले।

पतिः पत्नी च प्राणैस्तु गच्छेतामेकतां सदा।

शरीरेण द्वयं स्यातां स्नेहसम्मानमेव च ॥ ४१ ॥

सहयोगं सदापूर्णं विश्वासं च परस्परम्।

अर्पयेतामुभौ नैव गूहेतां किमपि क्वचित् ॥ ४२ ॥

त्रुटीः शोद्ध्याश्च विस्मर्याः प्रतिशोधस्य भावना।

न ग्राह्या मतभेदाश्च विचारैस्ते परस्परम् ॥ ४३ ॥

समाधेयाः स्वपक्षे च हठं नैव समाश्रयेत्।

कोऽपि तत्र विपक्षं च भावयन् स्वं, विचारयेत् ॥ ४४ ॥

काठिन्यं विवशं भावमन्यपक्षगतं सदा।

आक्रोशं नाधिगच्छेच्च भग्ने स्वीये मनोरथे ॥ ४५ ॥

टीका—पति-पत्नी एक प्राण दो देह बनकर रहें। एक दूसरे को परिपूर्ण स्नेह, सम्मान, सहयोग एवं विश्वास प्रदान करें। परस्पर दुराव न रखें। भूलों को सुधारते और भुलाते रहें,

प्रतिशोध की भावना न रखें। मतभेदों को विचार-विनिमय से सुलझा लिया करें। कोई पक्ष आग्रहशील हठवादी न बने। अपने को दूसरे की स्थिति में कठिनाई और लाचारी पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करें। अपनी मरजी पूरी न होने पर आक्रोश से न भरें ॥ ४१-४५ ॥

सुखी, सफल दांपत्य जीवन तभी संभव है, जब नर व नारी एक दूसरे के पूरक होकर जिएँ। पति-पत्नी में आपस में कोई दुराव-छिपाव न हो। गलतियाँ दोनों में से किन्हीं की भी हो सकती हैं। उन्हें विनम्रता से इंगित कर उनका समाधान निकाला जा सकता है। सौजन्य एवं सहकार पर ही परिवार रूपी रथ की धुरी टिकी हुई है। इसमें दुराग्रह, पूर्वाग्रह या प्रतिशोध की भावना पनपने का अर्थ है, विग्रह का जन्म लेना ऐसे संदेहों का जन्म होना जो घुन की तरह धीरे-धीरे उस शहतीर को नष्ट कर डालते हैं जिस पर भवन टिका हुआ है।

सहिष्णुतां समाश्रित्य मैत्री निर्वाह्यते सदा।

संसारे द्वौ नरौ नैव प्रकृत्या समयतां गतौ ॥ ४६ ॥

स्वेच्छया न बलात्तत्र बाध्यं कर्तुं कमप्यहो।

शक्यते संकटोऽभ्येति महंस्तत्र बलाद्यदि ॥ ४७ ॥

कार्यते कार्यमेषोऽत्र संकटश्च तथाविधः।

उदेत्युग्रो व्यथादायी कार्यानुत्पत्तितोऽपि यः ॥ ४८ ॥

अवसरो नैव दातव्यो मतभेदोदयाय च।

आगतायां स्थितावेवं सहमानैर्विधीयताम् ॥ ४९ ॥

कार्यं नारीव्रतं तत्र पातिव्रत्यं नरोऽपि च।

कुर्यात्पत्नीव्रतं दिव्यं निष्ठातो जीवनं निजम् ॥ ५० ॥

टीका—सहिष्णुता के सहारे ही मैत्री का निर्वाह होता है। संसार में कोई भी दो मनुष्य एक जैसी प्रकृति के नहीं होते, फिर भी बलपूर्वक किसी को अपनी मर्जी पर चलने के लिए बाधित भी तो नहीं किया जा सकता। इस तरह काम करा लेने पर काम न होने से भी अधिक व्यथित करने वाला बड़ा संकट उत्पन्न होता है। अस्तु, मतभेदों को पनपने का अवसर ही न दिया जाए। यदि ऐसी स्थिति आए भी तो उन्हें सहन करते हुए काम चलाया जाए। नारी पतिव्रत धर्म का एवं नर पत्नीव्रत धर्म का निष्ठापूर्वक निर्वाह करें यही दैवी जीवन है ॥ ४६-५० ॥

पारस्परिक सौजन्य के सहारे ही दो साथियों की मैत्री निभती है। जिन्हें जीवन भर के लिए एक गठबंधन में बाँध दिया गया है, उन्हें तो सहनशीलता का अभ्यास और भी अच्छी तरह करना चाहिए। स्वभाव दो व्यक्तियों के एक जैसे होते तो नहीं, पर समझा-बुझाकर, तालमेल बिठाकर ऐसी रीति-नीति बनाई जा सकती है, जिससे दो व्यक्तियों के आपस में टकराने की स्थिति न आए। पारस्परिक मतभेद पनपने पर कोई एक पक्ष भी यदि सामयिक रूप से उन्हें

३.१६ प्रज्ञोपनिषद्

अधिक न बढ़ने देने के लिए संकल्पित हो, तो कालांतर में वे स्वयमेव तिरोहित हो जाते हैं। जब वस्तुस्थिति का पता चलता है तब लगता है, उस समय की मनःस्थिति एवं तदजन्य आवेश कितना निरर्थक एवं तिल को ताड़ रूप में बनाया गया है।

एक दूसरे के प्रति एकनिष्ठ भाव से समर्पित होकर जीना यदि संभव हो सके, तो गृहस्थ जीवन स्वर्ग से भी बढ़कर है। मात्र पत्नी के लिए पति परायण होना ही नहीं, पति के लिए पत्नी के प्रति उतनी ही कर्तव्यनिष्ठा चिंतन एवं व्यवहार में होना जरूरी है, तभी दोनों का गठबंधन सार्थक है।

देवतुल्यं विधातुं तद् विवाहात्पूर्वजं तथा।

व्यतिरेकश्च विस्मयः कार्यं न संशयादिकम् ॥ ५१ ॥

विवाहस्य दिनादेव प्रारब्धा व्रतशीलता।

जायते भाव्यमेतैश्च नियमैरुभयोः कृते ॥ ५२ ॥

समानैर्विधवानां ते विधुराणामुताऽपि च।

कारणेऽपरिहार्ये च बंधनान्मुक्तिरिष्यते ॥ ५३ ॥

नियमं मन्यतां नैतदपवादं तु केवलम्।

प्रसंगाश्चेदृशा न्यूना एवायांतु कदाचन ॥ ५४ ॥

अर्धांगिनी न त्यक्तव्या नरेणानीतिपूर्वकम्।

दृष्टिं दद्याज्जागरूकां तस्यां देहे निजे यथा ॥ ५५ ॥

टीका—विवाह से पूर्व के व्यतिरेकों को भुला दिया जाए। इस कारण कोई किसी पर अविश्वास या संदेह न करें। व्रतशीलता तो विवाह के दिन से आरंभ होती है। विधवा और विधुर दोनों के लिए एक जैसे अनुशासन होने चाहिए। बंधन-मुक्त होने का प्रयत्न अनिवार्य कारण होने पर ही किया जाए। उसे नियम नहीं अपवाद माना जाए। ऐसे प्रसंग कम ही आए। कोई पति अपनी पत्नी को अनीतिपूर्वक परित्याग न करे। इस पर अपने शरीर की देखभाल की तरह ही कड़ी दृष्टि रहनी चाहिए। ५१-५५

पाणिग्रहण संस्कार व्रतों को निभाते हेतु दृढ़-निश्चयी दो व्यक्तियों का संयुक्तीकरण है। ऐसे पुण्य-प्रयोजनों में निरत साथियों को आपसी संबंधों में आड़े न आने देना चाहिए। यदि पूर्व के कोई ऐसे प्रसंग हों, जिनसे अविश्वास को पोषण मिलता हो, तो उनसे विमुख होकर उनमें न उलझना ही श्रेयस्कर है। इसी में पारिवारिक गठबन्धन की मर्यादा निभती है।

यदि किसी कारणवश दोनों को अलग होना पड़ें तो ऐसे अवसर कम से कम आने दें। इन दिनों छोटी-छोटी बातों पर आवेशग्रस्त होकर संबंध टूटते देखे जाते हैं। तलाक के प्रसंग आम हो गए हैं। पाश्चात्य सभ्यता देव संस्कृति पर हावी होती जा रही है एवं आधुनिकता की दौड़ में मदहोश व्यक्ति

विवेक खोकर गृहस्थ-जीवन रूपी हाथ आए सुयोग को गवाँ बैठता है। इसमें एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य यहाँ बताई गई है कि कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी को, जो उसकी अर्धांगिनी है, अनीतिपूर्वक न छोड़े। यह एक ऐसा अपवित्र कृत्य है, जो मनुष्यता के नाम पर कलंक है।

यौवने पुरुषैः सर्वैरर्थोपार्जनमिष्यते।

उचितं चेदमाभाति तथैवावश्यकं नृणाम् ॥ ५६ ॥

श्रमस्याजीविका ग्राह्या सर्वैरेव नैरिह।

ग्राह्या पवित्रता चैव तत्रोपार्जनकर्मणि ॥ ५७ ॥

नेदृशं व्यवसायं च कश्चिदेव समाश्रयेत्।

पतनस्य पराभूतेर्गते येन पतेत्स्वयम् ॥ ५८ ॥

अनावश्यकं च श्रृंगारे सज्जायामपि वा पुनः।

अपव्यययुतं नैव प्रदर्शनमथाऽऽचरेत् ॥ ५९ ॥

व्यसनेषु प्रपञ्चेषु गौरवं नैव मन्यताम्।

नैव तस्मिन् व्ययः कार्यः पणकस्यापि कुत्रचित् ॥ ६० ॥

सरलयैव पद्धत्या जीवनस्य तया सह।

उत्कृष्टं जीवनं बद्धमहंकारि-नरास्तु ये ॥ ६१ ॥

प्रदर्शनरतास्ते तु सदैवात्राधमर्णताम्।

घृणास्पदस्थितिं चैव प्राप्नुवंति निरंतरम् ॥ ६२ ॥

टीका—युवावस्था में सभी को अर्थोपार्जन करना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए यह उचित भी है और आवश्यक भी। सभी को श्रम की आजीविका उपार्जित करनी चाहिए। उपार्जन में ईमानदारी बरती जाए। कोई ऐसा व्यवसाय नहीं करें, जिससे किसी को पतन-पराभव के गर्त में गिरना पड़ता हो। अनावश्यक श्रृंगार-सज्जा, अपव्यय भरा प्रदर्शन, आडंबर एवं दुर्व्यसनो में न तो बड़प्पन मानना चाहिए और न उनमें एक पैसा खर्च करना चाहिए। सादगी के साथ ही उत्कृष्ट जीवन जुड़ा हुआ है। प्रदर्शन प्रिय अहंकारी आर्थिक तंगी भुगतते, ऋणी रहते और घृणास्पद बनते हैं ॥ ५६-६२ ॥

कुरीत्याक्रमणं प्रायो गृहस्थे जीवनेऽधिकम्।

जायते पुरुषाः संति तत्र येऽपक्वबुद्धयः ॥ ६३ ॥

मन्यन्ते ते च सर्वस्वं यत्तत्प्रचलनोद्भवम्।

त्यक्तुं तन्न समर्थास्ते मन्यन्ते स्वकुबुद्धयः ॥ ६४ ॥

दृष्ट्वाऽन्योऽन्यं प्रथास्ताश्च गृह्णन्त्येव निरंतरम्।

सर्वथाऽनुपयोगित्वं वर्तमाने गतास्तु याः ॥ ६५ ॥

टीका—कुरीतियों का आक्रमण प्रायः गृहस्थ-जीवन के दिनों में ही होता है। अविकसित मस्तिष्क प्रचलनों को ही सब कुछ मानते हैं तथा दुराग्रह बुद्धि के कारण वे उन्हें छोड़ नहीं पाते हैं और देखा-देखी उन प्रथाओं को भी अपनाते हैं जो वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा अनुपयुक्त हो गई है ॥ ६३-६५ ॥

विवाहेषूपजातीनां सीमाबंधनमद्य तु।

समाप्यं यत आसंस्ते वर्णाश्चत्वार एव तु ॥ ६६ ॥
उपजातिवितानं तु मध्यकालस्य विद्यते ।
अंधकारयुगस्येयमुत्पत्तिर्भेदवाहिनी ॥ ६७ ॥
प्रदर्शनपराणां तु विवाहप्रीतिभोजयोः ।
अद्यत्वेऽप्यव्यानां हि नैवोचित्यं तु वर्तते ॥ ६८ ॥
त्यक्तव्याः सर्व एवैते श्रद्धाहीनास्तथैव च ।
प्रदर्शनपरा भोजव्यवस्था मृतकोद्भवा ॥ ६९ ॥
भिक्षाया व्यवसायः स जातिमान्या च मान्यता ।

अवगुण्ठनादिकाः सर्वा रीतयो हानिदा अलम् ॥ ७० ॥

टीका—विवाहों में उपजातियों का सीमा बंधन समाप्त होना चाहिए। पुरातन काल में चार वर्ण ही थे, उपजातियों का जंजाल तो मध्यकाल के अंधकारयुग की भेद-प्रभेदमय देन है। अपव्यय, धूमधाम भरे प्रीतिभोजों, विवाहों का वर्तमान परिस्थितियों में तुक नहीं। इन्हें बंद किया ही जाना चाहिए। इसी प्रकार श्रद्धाविहीन बड़े मृतक भोज, भिक्षा-व्यवसाय, जाति-पाँति के आधार पर बरती जाने वाली ऊँच-नीच की मान्यता, पर्दाप्रथा जैसी कुरीतियों में असीम हानि ही है ॥ ६६-७० ॥

गृहस्थाश्रम के जहाँ अनेकों लाभ हैं, वहाँ एक हानि यह भी है कि प्रगतिशीलता के अभाव में, चिरपुरातन समय से चली आ रही परंपराएँ प्रचलन, पारिवारिक सदस्यों के दैनिक जीवन का एक नियमित अंग बन जाती हैं। बड़े-बूढ़े कह गए हैं, इसलिए कुछ करना एवं उसे तर्क की कसौटी पर न कसना सौजन्य एवं मर्यादापालन नहीं कहलाता। आने वाली पीढ़ियाँ व अन्य पारिवारिक सदस्य भी इन मूढ़-मान्यताओं को जो समय के प्रवाह के साथ-साथ अब उपयुक्त नहीं रहें, शाश्वत मानकर चलते एवं उनका परिपालन करते हैं। इससे अंततः समाज की प्रगति में अवरोध ही आते हैं।

विवाहों से जुड़ी कुरीतियों में उपजातियों का बंधन अहंता के प्रदर्शन से भरे खरचीले विवाह आदि आते हैं। अब समय आ गया है कि देव-संस्कृति के पुरातन स्वरूप को उसके शाश्वत प्रखर रूप में प्रस्तुत किया जाए एवं हर वर्ण में बने उपजाति के बंधन तोड़े जाएँ। वर्णों का विभाजन कर्मों के आधार पर माना जाए, न कि जन्म के आधार पर। ऐसे में श्रेष्ठ आचरण वाले उपयुक्त वर-वधू समाज में से चयन कर श्रेष्ठ नागरिक समाज को दिए जा सकते हैं। धूम-धड़के से भरी शादियाँ व्यक्तियों को अनीति की कमाई की ओर तो प्रवृत्त करती ही हैं, अन्य अनेकों के मन में ईर्ष्या-डाह भर देती हैं। ऐसे अवसर पर आयोजित प्रीतिभोज संक्षिप्त, सादगी से भरे एवं वास्तविक अर्थों में सौजन्य बढ़ाने वाले सम्मेलन के रूप में होना चाहिए।

बड़ों की मृत्यु के बाद भोज देने की परंपरा अभी भी

समाज में विद्यमान है। इसके स्थान पर श्राद्ध रूप में परमार्थ कार्य को लेना चाहिए। इससे पितरों के प्रति सही अर्थों में श्रद्धा व्यक्त होती है। ऊँच-नीच, भिक्षा-व्यवसाय, नारी को परदे में बाँध रखने की प्रवृत्तियाँ भी ऐसी ही हैं, जो गृहस्थाश्रम में रहकर कार्य करने वालों के मार्ग में बाधक बनती हैं। इनसे जूझने-इनके विरुद्ध माहौल बनाने का सही समय यही है। आज की परिस्थितियों में वह अभीष्ट है, वही क्रिया की जानी चाहिए।

हितं नैव तु कस्यापि सिद्ध्येदेभिः क्वचिन्मनाक् ।

असंख्या हानयो मात्रं भवंत्येव निरंतरम् ॥ ७१ ॥

अंधविश्वासबाहुल्यं दिवसेष्वेषु विद्यते ।

यदाश्रित्य च धूर्तास्तु जनान् लुंठन्ति नित्यशः ॥ ७२ ॥

आत्मानं हि भ्रमादस्माद्रक्षेदन्यानपि स्वकान् ।

भाग्यवादे किंवदन्ती श्रितेष्वेतेषु वा पुनः ॥ ७३ ॥

देवेषु पुरुषेष्वेवं भविष्यद् वक्तृषु क्वचित् ।

मुहूर्तस्यादिवादे न भ्रातैर्भाव्यं विवेकिभिः ॥ ७४ ॥

टीका—अंधविश्वासों की इन दिनों भरमार है। उनकी आड़ में धूर्त लोग भोले-भावुकों को ठगते रहते हैं। इस भ्रम-जंजाल से स्वयं बचना और दूसरों को बचाना चाहिए। भाग्यवाद चित्र-विचित्र किंवदन्ती, आश्रित देवी-देवताओं का प्रचलन, भविष्य कथन, मुहूर्तवाद जैसी भ्रांतियों में विज्ञजनों को नहीं ही फँसना चाहिए ॥ ७१-७४ ॥

परिवार में रहते हुए मूढ़ मान्यताओं, अंध विश्वासों के कुचक्र से बचना हर गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। जनमानस इतना लचीला होता है कि वह जिधर मोड़ा जाए, उधर ही मुड़ जाता है। विवेक से काम लेने वाले कम ही देखे जाते हैं। धर्म के नाम पर अनेकों विकृतियाँ समाज में फैली हैं। धर्म का वस्तुतः सही स्वरूप ही जन साधारण को नहीं मालूम है।

गृहस्थजीवने चाऽत्र संबद्धातिथि सत्कृतिः ।

वर्तितव्यो नातिवादस्तथाप्यत्र कदाचन ॥ ७५ ॥

सख्यव्याजेन येष्वत्र गृहेषु मित्रमंडली ।

संतिष्ठते सदा सत्वहीनता तेषु जृंभते ॥ ७६ ॥

समयो नश्यति द्रव्यं नश्यत्येतेन संततम् ।

विकृतीनां प्रवेशश्च कुटुंबे जायतेऽञ्जसा ॥ ७७ ॥

आवश्यकेन कार्येण विना नैव कदाचन ।

आतिथ्यमाचरेदत्र निष्क्रियाणां नृणां बुधः ॥ ७८ ॥

गृहेषु नैव चान्येषां गच्छेद् व्यर्थं निरंतरम् ।

समयस्य विनाशस्तु मित्रैः सह न युज्यते ॥ ७९ ॥

हानयो विपुलाः संति दिनेष्वेतेषु सर्वथा ।

जीविका कष्टयुक्तेषु विधिनाऽनेन निश्चितम् ॥ ८० ॥

सन्मित्राणामभावस्तु प्रायोऽद्यत्वे विलोक्यते ।

भावुकाश्च दिशाहीना वर्धन्ते चाऽन्यसंगताः ॥ ८१ ॥

३.१८ प्रज्ञोपनिषद्

टीका—गृहस्थ जीवन के साथ अतिथि सत्कार जुड़ा हुआ है, पर उसमें अतिवाद नहीं बरता जाना चाहिए। जिन घरों में दोस्ती के नाम पर निरर्थक व्यक्तियों की मंडली जमी रहती है, उनका दिवाला निकल जाता है, समय नष्ट होता है, पैसों की बरबादी होती है। इस अवांछनीय घुसपैठ से परिवार में अनेकों विकृतियाँ अनायास घुस पड़ती हैं। इसलिए बिना आवश्यक काम के निठल्ले लोगों का आतिथ्य नहीं करना चाहिए, न ही दूसरों के घरों में बिना कारण बार-बार जाना चाहिए। मित्रों के साथ आवश्यक समय बरबाद करना किसी भी प्रकार उचित नहीं। इन दिनों तो उससे हानि ही हानि है। भले मित्रों का अब एक प्रकार से अभाव ही हो गया है। दिशाहीन भावुक पुरुषों की संख्या बढ़ रही है, जो औरों को भी बहा ले जाते हैं ॥ ७५-८१ ॥

अतिथि धर्म का निर्वाह हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना जाता है। पर यहाँ ऋषि इस दिशा में अतिवाद बरते जाने से संभावित परिणामों का संकेत करते हुए कहते हैं कि जहाँ मित्रता के नाम पर अनावश्यक लोगों का जमघट रहता है, वहाँ सत्प्रवृत्तियाँ पनपने, परस्पर मैत्री बढ़ने के स्थान पर विकृतियाँ जन्म लेने लगती हैं। मित्रता जरूरी है, उसके बिना जीवन व्यापार में प्रगति संभव नहीं, पर उस दिशा में विवेक बरता जाना जरूरी है। सच्चे मित्र बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। लोक प्रचलन के प्रवाह में तो धूर्तों अथवा अतिभावुकों की ही भीड़ है, जो किसी काम में सहायक तो बनते नहीं, हानिकारक और सिद्ध होते हैं।

संयुक्तस्य कुटुंबस्य रीतियोग्यैव सर्वथा।

कर्तव्यानि विभक्तानि दायित्वानि नृणां सदा ॥ ८२ ॥

भवेयुः स्वस्वदायित्वं मर्यादाऽपि च स्वतः।

निर्वहेयुः समे नो चेन्मनोमालिन्यमत्र तत् ॥ ८३ ॥

पृथग्भावोऽपि सद्यस्तु समुदेति भवेत्ततः।

कलहापेक्षया चाल्पकुटुंबस्थिति - बाध्यता ॥ ८४ ॥

टीका—संयुक्त परिवार प्रथा हर दृष्टि से उपयोगी है, पर उसमें कर्तव्य और उत्तरदायित्व बँटे रहना चाहिए और हर सदस्य को अपनी-अपनी जिम्मेदारियों तथा मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। इसके बिना मनोमालिन्य और बिखराव पैदा होता है। ऐसी स्थिति में निरंतर के कलह की अपेक्षा छोटे-छोटे अलग परिवार बसाने की विवशता अपनाती पड़ती है ॥ ८२-८४ ॥

संयुक्तस्य कुटुंबस्य लाभश्चात्र तदैव तु।

प्राप्यते यदि कर्तव्यमर्यादानां विनिर्मिता ॥ ८५ ॥

आचारसंहिता सा स्यात्पाल्येतापि जनैः स्वयम्।

वयोऽधिकाश्च मान्याः स्युः परिवारे सदैव ते ॥ ८६ ॥

सौविध्यस्य साहाय्यस्य चिंता तेषां विशेषतः।

कर्तव्या लाभ आप्तव्यस्तेषामनुभवैः सदा ॥ ८७ ॥

परामर्शं निदेशं तमौचित्यनिकषे स्वयम्।

पालयेत्संपरीक्ष्यैव यतो वृद्धजनेष्वपि ॥ ८८ ॥

बहूनां मान्यता इच्छा स्वभावश्च समान्यपि।

विवेकनिकषोत्तीर्णान्यत्र नैव भवन्ति तु ॥ ८९ ॥

ईदृश्यां च दशायां तु निदेशान् कलहं विना।

शक्यते चाञ्जसा कर्तुमश्रुतान् वाप्युपेक्षितान् ॥ ९० ॥

सम्मानं च सुरक्षा च सेवा भावोऽन्यदेव तु।

विद्यते चाविचार्यैव निदेशपरिपालनम् ॥ ९१ ॥

भिन्न एव महत्त्वं च विवेकौचित्ययोस्तु तत्।

श्रेष्ठमेव परामर्शाद् वृद्धानामतिरिच्यते ॥ ९२ ॥

टीका—संयुक्त परिवारों का लाभ तभी मिलता है, जब कर्तव्यों एवं मर्यादाओं की आचार संहिता बने और उसका विधिवत् पालन हो सके। परिवार संस्था में वयोवृद्धों को समुचित सम्मान मिलना चाहिए। उनकी सुविधा और सहायता का भी ध्यान रखना चाहिए। उनके अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए, किंतु परामर्श या निदेश को औचित्य की कसौटी पर कसने के उपरांत ही पालन करना चाहिए। वृद्धों में से कितनों की ही मान्यताएँ, आदतें, इच्छाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें विवेक की कसौटी पर कसने पर खरा नहीं पाया जाता। ऐसी दशा में निर्देशों को बिना विग्रह खड़ा किए हुए, उन्हें अनसुना या उपेक्षित भी किया जा सकता है। सम्मान, रक्षा, सुरक्षा, सेवा एक बात है और आँखें मूँदकर निर्देश मानने के लिए बाधित होना सर्वथा दूसरी। विवेक एवं औचित्य का महत्त्व सर्वोपरि है। उसका स्थान वृद्धजनों के परामर्श से भी अधिक है ॥ ८५-९२ ॥

आज परिस्थितियाँ बदली हुई हैं। पुरातन विश्व की तुलना में आज परिवार संस्था का रूप बदला हुआ-सा है। पहले बड़े परिवारों में सभी एक साथ रहते थे, एक साथ उपार्जन कर उसका मिल-बाँटकर उपभोग करते थे। तब समाज छोटे-छोटे हिस्सों में बँटा था, शहर अधिक नहीं थे एवं कृषि तथा ग्राम्य प्रधान संस्कृति होने के कारण संयुक्त परिवार का प्रचलन अधिक था। उसके अपने लाभ थे। सहकारिता, औदार्य एक-दूसरे के प्रति सौजन्य, बड़ों का सम्मान, ये सभी उस परंपरा की ही देन हैं।

आज स्थिति अलग है। उपार्जन के स्थान सुदूर क्षेत्रों में होने के कारण परिवार बँटते चले जा रहे हैं। यदि यह संरचनात्मक विघटन ही होता, तो एक बात थी, किंतु जब उत्तरदायित्वों को भुलाकर भावनात्मक विघटन भी हो जाता है, तो आधुनिकता की इस देन को, बुद्धिमान लोग हेय ही ठहराते हैं। दूसरा पक्ष यह भी है कि पीढ़ियों के अंतर व मानसिकता में भिन्नता होने के कारण परस्पर कलह बना

रहता हो एवं यही संयुक्त परिवार के विघटन का कारण बनता हो, तो ऐसे में बड़ों के प्रति दायित्व निभाते हुए यदि अलग छोटे परिवार बनाने पड़ें, तो इसे आज की आवश्यकता मानकर चलना चाहिए।

यदि सौभाग्यवश संयुक्त परिवार में रहने का अवसर मिल सके, तो निर्वाह तभी हो पाता है, जब सभी परिवारीजन अपने उत्तरदायित्वों को निभाएँ। बड़ों ने कष्ट उठाकर परिवार संस्था को समुन्नत किया है। वे सम्मान के योग्य हैं। किंतु यदि उनके परामर्श सामयिक न हों एवं तर्क, तथ्य की कसौटी पर अनुचित ठहरें, तो ऐसे में उन्हें अनसुना करना अकर्तव्य नहीं है। ऋषि कहते हैं कि आँख बंद करके, बड़े कह रहे हैं, मात्र इसलिए मान लेना समझदारी की बात नहीं है। जो तथ्य कुरीतियों, मूढ़-मान्यताओं पर लागू होते हैं, वे ही उन सुझावों-परामर्शों पर भी समान रूप से लागू होते हैं, जो समय के प्रवाह से विपरीत हैं अथवा अनुचित हैं।

गृहस्थजीवनस्यातो महिमा स मतः स्वतः।

आश्रमाणामिव श्लाघ्यः शोभनः सुप्रशंसितः ॥ १३ ॥

उच्चादर्शं तु गृह्णन्ति लोकसेवा - विधेस्तु ये।

जनास्तेषां कृते नैवानिवार्यं विद्यते परम् ॥ १४ ॥

सर्वसाधारणानां तु कृतेऽस्त्येव जनैर्यतः।

विकासश्च कुटुंबस्थः सर्वेषामेव जायते ॥ १५ ॥

गृहस्थेन ततः सर्वे संबद्धाः संति निश्चितम्।

अतस्तत्सूत्रसंबद्धकर्तव्यपरिपालनम् ॥ १६ ॥

टीका—गृहस्थ जीवन की महिमा भी अन्य आश्रमों की तरह ही सुंदर, प्रशंसनीय एवं श्लाघ्य मानी गई है। लोकसेवा का उच्च आदर्श अपनाने वालों के लिए वह अनिवार्य नहीं, तो

भी सर्वसाधारण के लिए वही उपयुक्त है। हर किसी का जन्म और विकास तो परिवार के अंतर्गत ही होता है, इसलिए उसके साथ हर कोई जुड़ता है। अतएव उस संबंध सूत्र के साथ जुड़े हुए कर्तव्यों का परिपालन ही श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १३-१६ ॥

गृहस्थ जीवन प्रकरण का समापन करते हुए ऋषिश्रेष्ठ सर्वसाधारण के लिए परिवार-बंधन में जुड़ने का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि चूँकि मनुष्य परिवार की, समाज की, एक इकाई है, उसे अपवादों को छोड़कर यथासंभव अपने दायित्व परिवार संस्था से जुड़कर ही निभाना चाहिए। माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्र, मित्रगण इन सभी के प्रति उसके कर्तव्य हैं। उन्हें गृहस्थ धर्म में रहकर ही पूरा किया जा सकता है। मनुष्य के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है, कि वह स्वयं को इस बंधन से जोड़कर सबको साथ लेकर चले एवं अपने धरती पर अवतरण को सफल बनाए।

उद्बोधनं प्रियं जातं श्रोतृणामद्य यच्छ्रुतम्।

शांतिपाठनमस्कारजयशब्दैरथापि च ॥ १७ ॥

नीराजनेन सार्धं च समाप्तं सत्रमुत्तमम्।

यथाकालं परं गन्तुमुत्थातुं चापि नो मनः ॥ १८ ॥

कस्यापि कुरुते तत्र साहसं नित्यकर्मणः।

व्यवस्था च व्यधात् सर्वान्विवशान् गंतुमत्र च ॥ १९ ॥

टीका—आज का उद्बोधन जनों को और भी प्रिय लगा। शांतिपाठ, आरती, जयकार, अभिवंदन के उपरांत नियम समय पर सत्र समाप्त हुआ, पर उठने व जाने के लिए किसी का मन नहीं कर रहा था। नित्य-नियम की व्यवस्था ने ही उन्हें विदा होने के लिए विवश किया ॥ १७-१९ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीधौम्यऋषिप्रतिपादिते गृहस्थजीवन इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥